



ISSN: 2454-9177
NJHSR 2015; 1(3): 16-18
© 2015 NJHSR
www.sanskritarticle.com
Received: 27-11-2015
Accepted: 28-11-2015

वेदानन्द

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
बी.आर.अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर

संस्कृत व्याकरण की महत्ता उसकी उत्पत्ति बीज, एवं वर्तमान में उसका विकासात्मक स्वरूप

वेदानन्द

भाषा मनोभावों को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है। बिना भाषा के मनुष्य अपनी भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा की महती आवश्यकता है शुद्ध भाषा के बिना भावाभिव्यक्ति स्तरीय नहीं हो सकती। व्याकरण भाषा की शुद्धता में चार चाँद लगा देता है। व्याकरण के ज्ञान से भाषाविषयक अशुद्धि का परिष्कार होता है अधोलिखित श्लोक उपर्युक्त तथ्य का प्रमाणक है।

यद्यपि बहुनाधीशे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्

स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलम् शकलं सकृत् शकृत् ॥

अर्थात् साधु शब्दों के ज्ञान तथा वर्णोच्चारण ज्ञान के बिना सकार और शकार में भेद भी नहीं हो सकता फलतः सकृत् भुङ्क्ते एकवार खाता है के स्थान पर शकृद् भुङ्क्ते "मल खाता है यह अर्थ के स्थान पर अनर्थ हो सकता है। साथ ही वर्णोच्चारण ज्ञान के बिना हम न तो वेदों का विद्वान हो सकते हैं और न ही शास्त्रों को समझ सकते हैं। वर्णोच्चारण का ज्ञान, शब्द-अपशब्द, प्रकृति-प्रत्यय, विविधशब्दों के निर्माण का प्रक्रिया ज्ञान व्याकरण से ही हो पाता है। व्याकरण के बिना शुद्ध शब्द ज्ञान तथा परिष्कृत शब्द प्रयोग भी नहीं हो सकता। इसलिए व्याकरण को मुखं व्याकरणं स्मृतम् अर्थात् सभी शास्त्रों का मुख कहा गया है। व्याकरण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन का निर्देश किया है। रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् (महाभाष्य आ. 1) साथ ही व्याकरण केवल भाषाशुद्धि का ही साधन नहीं है अपितु यह शब्द ब्रह्म की प्राप्ति का भी साधन है। ऋग्वेद में वाणी रूपी तत्त्व की महत्ता पर निम्न प्रकार से सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है-

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् उत त्वः ऋण्वन्न ऋणोत्येनाम्

उतो त्वस्मै तन्वं विसन्ने जायेव पत्य उशती सुवासाः ।(ऋग्वेद 10.71.4)

अर्थात् जो वाणी के स्वरूप को भली भाँती जानता है उसके लिये वाणी भी अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देती है। शब्द की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए काव्यादर्श में महाकवि दण्डी ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्येत।। (काव्यादर्श।.34)

अर्थात् शब्द नामक ज्योति इस संसार में प्रकाशित न हो तो सम्पूर्ण संसार अन्धकारमय हो जायेगा। इस प्रकार शुद्ध शब्दों के ज्ञान तथा उसके प्रयोग के लिए सभी विद्वानों ने व्याकरण की महत्ता को स्वीकार किया है। भाषा शुद्ध हो परिष्कृत हो इसके लिए विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने अनेक व्याकरण शास्त्रों का निर्माण किया है। यथा पालि-प्राकृत संस्कृत हिन्दी इत्यादि। इन सभी विषयों के अनुयायियों ने अपने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए अपनी अपनी भाषा को आदि भाषा का समर्थन किया। लेकिन भाषायी दृष्टि से हम देखें तो यह पता चलता है कि संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन है। संस्कृत भाषा की प्राचीनता के बारे में प्रायः सभी भारतीय एवं विदेशी विद्वान् एकमत हैं क्योंकि सभी विद्वान् वेदों को प्रामाणिक मानते हैं जो कि संस्कृत भाषा में ही हैं वेदों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है-

प्रो. मैक्समूलर ने सन् 1859ई०में अपने ग्रन्थ । **History of ancient sanskrit licture** में वेदों के काल निर्णय का प्रथम श्लाघनीय प्रयास किया उनके अनुसार सर्वप्राचीन ऋग्वेद की रचना 1200विक्रम पूर्व में हुई क्योंकि विक्रम से लगभग 500वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म का उदय समस्त वैदिक वाङ्मय की सत्ता को स्वीकार करता है इस प्रकार वेद बौद्ध धर्म के परवर्ती कदापि नहीं हो सकते।

Correspondence:

वेदानन्द

रामलखनसिंह यादव कॉलेज,
नियर प्रोफेसर कॉलोनी,
चंपारण, बिहार 845438

बालगंगाधर तिलक जी ने ज्योतिष के आधार पर ऋग्वेद का काल 6000 विक्रम पूर्व स्वीकार किया है। प्राचीन भारतीय परम्परावादी विद्वानों के अनुसार वेद सृष्टि के आदि में ही रचे गये हैं। इसके लिए वे ऋग्वेद पुरुषसूक्त के मन्त्र को उद्धृत करते हैं।

**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यज्ञस्तस्माद् अजायत।**

अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर से ही चारों वेदों की उत्पत्ति हुई है। जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने भी वेदों का सर्वज्ञानमयत्व मानते हुए यह युक्तिवाद प्रस्तुत किया है कि महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नही ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्यसर्वज्ञात् अन्यतः संभव अस्ति ।

अर्थात् ऋग्वेदादि महान् शास्त्र अनेक विद्या स्थानों से विकसित हुआ है और यह प्रदीपवत् समस्त विषयों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार के सर्वज्ञान सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति स्थान ब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी से ऋग्वेदादि सर्वज्ञान सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार वेदों का कर्ता ईश्वर है तथा इनकी रचना सृष्टि के आदि में हुई है यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं तो संस्कृत भाषा की उत्पत्ति भी सृष्टि के आदि में ही हुई यह भी मानना पड़ेगा क्योंकि सम्पूर्ण वेद संस्कृत भाषा में ही है। इस प्रकार इन उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर हम इस निश्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा ही सबसे प्राचीन भाषा है। इस बात को मानने पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जैसा कि मैंने पूर्व ही कहा है कि भाषा शुद्ध हो परिष्कृत हो इसके लिए व्याकरण शास्त्र की महती आवश्यकता होती है क्योंकि बिना व्याकरण के हम शब्दों के साधुत्व असाधुत्व तथा प्रकृति प्रत्यय इत्यादि को नहीं जान सकते । इत्यादि बातों का विचार भी मेरे मतानुसार संस्कृत भाषा के साथ साथ सृष्टि के आदि में ही शुरू हो गया था। यदि हम ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों पर ध्यान दें तो इस मत की पुष्टि और भी प्रमाणिक रूप में हो जाती है। यथा-

**चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मत्र्यां आ विवेश ।**
(ऋग्वेद 4. 58.31)

अर्थात् इस वृषभ रूप शब्द महादेव के चार श्रृंग (चार प्रकार के पद नाम आख्यात् उपसर्ग और निपात) हैं। तीन पद (दो शब्द स्वरूप नित्य स्फोटोत्पन्न और कार्य ध्वन्यात्मक) हैं। सात हाथ (सात विभक्तियाँ) हैं। तीन स्थानों (उर कण्ठ और शीर) में बंधा हुआ यह वृषभ रूपि शब्द महादेव बार बार शब्द करता है। और भी -

**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीशिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।**
(ऋग्वेद 1.164.45)

अर्थात् वाणी के चार नपे तुले पद हैं । उनको जो मनीशि ब्राह्मण हैं वे जानते हैं । उन चारों में से तीन गुहा में निहित होते हुये चेषित नहीं होते । वाणी के चैथे भाग को मनुष्य बोलते हैं। और भी -

**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्य सुशिरामिव**
(ऋग्वेद .118.69.12)

अर्थात् हे वरुण तुम सुदेव हो जिस आपके काकुद(तालु)के प्रति सात सिन्धु (सात विभक्तियाँ) अनुक्षरन्ति प्रकाशितहोते है। जैसे -सुशिरा सूर्मि को अग्नि।

इत्यादि मन्त्रों के ऊपर प्रकाश डाले तो यह तथ्य सामने आता है कि व्याकरण सम्बन्धी पद विभक्ति आदि सुधम तत्वों का बीज तो वेदों में ही निहित है। इसी का आश्रय लेकर लौकिक व्याकरण की उत्पत्ति हुई । वेदों से सम्बद्ध लौकिक व्याकरण का विकास तो वैदिक युग में चरमोत्कर्ष पर था किन्तु महाभारत के युद्ध के पश्चात् जब वैदिक युग का प्रायः अन्त हो गया समाज में अनेक कुरितियाँ व्याप्त हो गई तो पुनः महर्षि पाणिनि ने वैदिक सिद्धान्तों के रक्षार्थ अष्टाध्यायी नामक व्याकरण के महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें उन्होंने अपनी स्वोपज्ञा से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को तथा व्याकरण के गूढ सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित किया । फलस्वरूप पाणिनीय व्याकरण तत्कालीन समय में जनमानस की भाषा बन गई । पाणिनि ने भाषा की जिस सूक्ष्मतरंग ईकाई का व्याकरण में आत्मसात् किया कात्यायन के समय में उसमें कुछ परिवर्तन आ गया जिसको दूर करने के लिए उन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया । कात्यायन चाहते तो नवीन व्याकरण ग्रन्थ की रचना कर सकते थे किन्तु उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को सुदृढ़ करने में ही अपनी भूमिका का निर्वाह किया । इसी क्रम को जारी रखते हुए पतञ्जलि ने भी महाभष्य की रचना कर पाणिनीय व्याकरण रूपी भवन को दृढ़ता प्रदान की । इस प्रकार इन तीनों मुनियों ने मिलकर व्याकरण रूपि सुदृढ़ भवन की स्थापना की जिसके अनुसार भाषा की गाड़ी चल पड़ी और संस्कृत भाषा एक परिनिश्चित भाषा बन गई । किन्तु पुनः जब यह भाषा कालक्रम के अनुसार केवल विद्वानों की भाषा रह गई या फिर यह जनसामान्य से दूर होने लगी ठीक उसी वक्त उपभाषा कल्प सरल प्राकृत आदि भाषाओं का प्रयोग चल पड़ा ऐसी स्थिति में संस्कृत भाषा स्थूलित होने लगी । इसलिए विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्वानों ने इसके रक्षार्थ अपने ग्रन्थों एवं उपदेशों को संस्कृत भाषा के माध्यम से ही विस्तार किया । पुनरपि जनसामान्य का इस भाषा से मोह भंग हो गया । जो कुछ साधारण जन विद्वानों से प्रभावित होकर संस्कृत पढ़ना चाहते थे वे लाघव को न पाकर संस्कृत भाषा से विरत होने लगे । दूसरी ओर लोगों की सरलता एवं आकर्षण को ध्यान में रखते हुए कोई नातिदीर्घ व्यवहारिक व्याकरण हो ऐसा सोचकर शर्ववर्मा ने जनता की आवश्यकतानुसार त्रिमुनि काल के बाद कातन्त्र व्याकरण की रचना की नतीजा यह हुआ कि लोग कातन्त्र व्याकरण की ओर अग्रसर होने लगे। कारण यह कि पाणिनीय व्याकरण को जब तक पूरा न पढ़ लिया जाए तब तक किसी भी क्षेत्र का ज्ञान सम्पूर्ण रूप में नहीं होता है। जैसे - समास के विशय में प्रौढता हासिल करने के लिए कम से कम अष्टाध्यायी¹ के छः अध्याय का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि अष्टाध्यायी में समास प्रकरण द्वितीय अध्याय में हैं किन्तु समासान्त प्रत्यय पञ्चमाध्याय में हैं। समास में पूर्वोत्तर पद को निर्मित मानकर होनेवाले कार्य का विधान षष्ठाध्याय के तृतीय पाद में है । कुछ कार्य प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और कुछ द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में पढा है। इस प्रकार समास से सम्बन्धित कार्य अनेक स्थल पर विकीर्ण हैं। छात्र जब तक अष्टाध्यायी के कम से कम छः अध्याय न पढ़ ले तब तक समास का ज्ञान उसको सम्यक्तया नहीं होगा ठीक उसी प्रकार वृद्धिरादैच् अदेङ्गुणः प्रथमाध्याय से सम्बद्ध रखनेवाले वृद्धिरेचि आद्गुणः इत्यादि सूत्र षष्ठाध्याय तथा मृजेर्वृद्धि अचोऽजणिति इत्यादि सूत्र सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद में पठित हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी के इस वृहत क्रम के ज्ञान को छोड़कर जब जनसामान्य लघुता के कारण कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे तब पाणिनीय व्याकरणों ने भी पाणिनीय व्याकरण के रक्षार्थ अष्टाध्यायी क्रम को उच्छिन्न कर किसी एक विशय के समस्त सूत्रों को एक जगह

एकत्रित कर उसका व्याख्यान एक नये ढंग से प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार किसी विशय के ज्ञान के लिए उससे सम्बन्धित अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को एक जगह इकट्ठा कर जो व्याख्यान पद्धति का एक नया ढंग चला उसे ही प्रक्रिया क्रम कहा जाने लगा। प्रक्रिया क्रम के इस अध्ययन अध्यापन में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिसमें धर्मकीर्ति का रूपावतार, विमल सरस्वती की रूपमाला, रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी, भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी एवं नारायण भट्ट का प्रक्रिया सर्वस्व आदि महत्वपूर्ण है। आज इन्हीं ग्रन्थों में ही प्रायः सर्वत्र अध्ययन अध्यापन कार्य चलता नजर आ रहा है। यदि यही परम्परा चलती रही तो निःसन्देह एक ऐसा भी समय आ जाएगा जब अष्टाध्यायी क्रम का अध्येता पायद ही मिले। अस्तु इन पाचों ग्रन्थों के अध्ययन करने पर बहुत सारी महत्वपूर्ण बातें हमारे सामने उपस्थित होती हैं यथा भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी के अतिरिक्त कोई भी ग्रन्थ अपने सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सका। कारण यह है कि प्रक्रिया पद्धति किसी एक दिन का प्रयास न होकर षताब्दियों के प्रयासों का फल था। हम लोक में भी देखते हैं कि प्रारम्भिक कार्य की अपेक्षा कालान्तर का कार्य अत्यधिक प्लाघनीय होता है। ठीक उसी प्रकार धर्मकीर्ति के बनाये हुए मार्ग पर चलते हुए भले ही विमल सरस्वती की रूपमाला ख्याति को प्राप्त नहीं हुई। किन्तु इसके अनन्तर रचित रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी पूर्ण मुखरित होकर अध्येता के लिए ग्राह्य हुई। इस प्रक्रिया कौमुदी की ख्याति का अंदाजा इसी से लग जाता है जब रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी तथा उस पर लिखी गई विट्टल एवं षेकृष्ण की विपुल प्रौढ़ टीका सम्पत्ति ने प्रक्रियामार्ग को सर्वोच्चता के पिखर पर पहुँचा दिया। सर्वोच्चता के शिखर पर विद्यमान प्रक्रियामार्ग के मार्ग का अनुसरण कर तथा इसका पूर्णलाभ लेते हुए महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार के लक्ष्मीधर के सुपुत्र भट्टोजिदीक्षित ने जहाँ सिद्धान्त कौमुदी की रचना की वही केरल देषान्तर्गत नावा क्षेत्र के समीप निला नदी तटवर्ती झेल्युतूर ग्राम में उत्पन्न नारायण भट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि दोनों विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में प्रक्रिया कौमुदी को आधार बनाया तथा इसकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया। क्योंकि प्रक्रिया कौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए जहाँ भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी की रचना की वहीं नारायण भट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व की। इन दोनों ग्रन्थकारों की ग्रन्थनिर्माण की शैली भिन्न-भिन्न रही। जहाँ भट्टोजिदीक्षित ने ग्रन्थ निर्माण में प्रक्रिया कौमुदी और उसकी टीकाओं का स्थान स्थान पर खण्डन कर यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम् कहक मुनित्रय के अतिरिक्त किसी को मान्यता नहीं दी वहीं प्रक्रियासर्वस्व के लेखक नारायणभट्ट ने अति उदार दृष्टि रखते हुए पाणिनीयेत्तर इस प्रकार दोनों ग्रन्थों ने पाणिनीय व्याकरण के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किन्तु प्रसिद्धि सिद्धान्तकौमुदी को ही मिली। यद्यपि जहाँ ख्यातिप्राप्त सिद्धान्तकौमुदी एवं रामचन्द्र की सुत्र परित्याग की परम्परा ने जहाँ प्रक्रिया कौमुदी को आगे बढ़ने नहीं दिया वहीं प्रक्रियासर्वस्व को भी ख्याति प्राप्त नहीं होने दिया जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रक्रियाग्रन्थों का निर्माण पुरु हुआ उस उद्देश्य की पूर्ति में सिद्धान्त कौमुदी सफल नहीं हुई। कारण इसके पास्त्रीय विवेचन ने ग्रन्थ के पाठकों के लिए दुबोध एवं क्लिष्ट बना दिया पुनरपि सिद्धान्त कौमुदी की ख्याति नष्ट होने के बजाय धीरे धीरे बढ़ती ही गयी। इस कौमुदी से जहाँ भट्टोजिदीक्षित को “ चन्द्रस्य कान्तीव कीर्ति ” की प्राप्ति हुई वहीं इस ग्रन्थ ने पाणिनीय व्याकरण को पाणिनीयेतर व्याकरणों से रक्षा करने में अहम भूमिका निभायी। इसकी ख्याति के कारण इसने जहाँ पाणिनीय व्याकरण की ख्याति में

कमी लाई वहीं अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने की बजाय प्रक्रिया पद्धति से पढ़ने के लिये लोगों में उत्साह जारी किया। नतीजा यह हुआ कि लोग अष्टाध्यायी क्रम से विमुख होने लगे। सूत्रों की वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है ? उनका पौर्वापर्य क्रम क्या है? इत्यादि विषयों की जिज्ञासा भी समाप्त होती चली गयी। पुनरपि यह निर्विवाद सिद्ध है कि अष्टाध्यायी कण्ठाग्र किया हुआ व्यक्ति यदि सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन करे तो वह उसका पूर्ण लाभ उठा सकता है। एवं पाणिनीय व्याकरण की सूक्ष्मता को भी समझ सकता है।

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः2

इस प्रकार कौमुदी के अध्ययन के बिना कभी भी पाणिनीय व्याकरण का सूक्ष्म ज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रकार संस्कृत भाषा तथा व्याकरण का जो स्वरूप आज हमारे सामने उपलब्ध है चाहे वह अष्टाध्यायी पद्धति हो या फिर प्रक्रियात्मक ग्रन्थ निष्चय ही इसका बीज पाणिनि से पूर्व वेद आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में ही उद्भूत हो चुका था जिसका विकासात्मक रूप अष्टाध्यायी पद्धति या प्रक्रियात्मक ग्रन्थ हमारे सामने उपलब्ध है। विकास की इस प्रक्रिया में कई शताब्दियाँ लग गईं। इस प्रकार विकास की इस प्रक्रिया में व्याकरण शास्त्र ने दो महत्वपूर्ण आयाम प्राप्त किये।

एक अष्टाध्यायी पद्धति का युग तथा दूसरा प्रक्रियात्मक युग। यद्यपि ये दोनों रूप आज हमारे सामने उपलब्ध हैं फिर भी आज अष्टाध्यायी पद्धति से व्याकरण शास्त्र का पठन पाठन बहुत कम जगहों पर ही देखने को मिल रहा है। सर्वत्र प्रक्रिया ग्रन्थों के अनुसार ही आजकल विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों इत्यादि में पठन पाठन का कार्य चालू है।

सन्दर्भग्रन्थाः

- 1-दृष्टव्य संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ..601
- 2-पाणिनीय प्रक्रिया ग्रन्थ पञ्चक मिमांसा पृष्ट XVI